Swami Vivekananda Advanced Journal for Research and Studies
Online Copy of Document Available on: www.svajrs.com

ISSN:2584-105X **Pg. 90 - 95**

भारतीय ज्ञान परम्परा में गुरु शिष्य सम्बन्ध

मोहन लाल खटीक
सहायक आचार्य (संस्कृत), माणिक्य लाल वर्मा राजकीय महाविद्यालय, भीलवाड़ा(राज.)।
Email-mlkhatik.mc@gmail.com.

Accepted: 14/07/2025
Published: 17/07/2025

शोध सार

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति रही है। सम्पूर्ण विश्व प्रत्यक्ष – अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय ज्ञान परम्परा का ऋणी है। सहस्त्रों वर्षों से ज्ञान की अविरल धारा को प्रवाहित करने वाले वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र आदि संस्कृत ग्रन्थ विश्व के समस्त ज्ञान विज्ञान का प्रारम्भिक एवं एकमात्र स्त्रोत माने जाते रहें हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा ज्ञान, विज्ञान, कर्म, उपासना, अध्यात्म तथा योग आदि समस्त विषयों का मूल स्त्रोत है। भारतीय ज्ञान की यह सनातन परम्परा वैज्ञानिक और व्यावहारिक चिन्तन पर आधारित है। विश्व के समस्त समुदायों एवं प्राणीमात्र के कल्याण की भावनाओं से युक्त तथा विश्व बंधुत्व की भावना से ओतप्रोत यह परम्परा आज भी प्रासंगिक है। महाभारत एवं पुराण काल तक वैदिक धर्म, दर्शन, संस्कृति की धारा का निरन्तर प्रवाह होता रहा। कालान्तर में विदेशी आक्रमण के कारण जहाँ भारत की धन सम्पत्ति को लूटा गया वहीं भारतीय ज्ञान परम्परा को अपनाते हुए संस्कृत के ग्रंथों का अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद करके इनका भरपूर उपयोग भी किया गया।

भारतीय ज्ञान परम्परा में विश्व के सभी विषयों का समावेश प्राप्त होता हैं। ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जिसकी विद्यमानता भारतीय ज्ञान परम्परा में अप्राप्त हो। अत: महर्षि वेदव्यास भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का उद्घोष करते है कि-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यादिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।

मनुष्य जीवन का मुख्य अभिप्रेत पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के माध्यम से जीवन-मृत्यु के आवागमन से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करना है।

वस्तुत: गुरु ब्रह्मा के रूप में शिष्य के ह्रदय में ज्ञान, अज्ञान, आत्मा, परमात्मा, तम, मोह, माया, अहंकार, भक्ति, वैराग्य आदि विषयों को प्रकाशित कर उसमें परब्रह्म प्राप्ति योग्य बनाता है। अत: प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से भारतीय ज्ञान परम्परा में गुरु शिष्य सम्बन्धों का विश्लेषण एवं वर्तमान समय में उसकी प्रासंगीकता का विवेचन किया जाना अपेक्षित है।

मूल शब्द *– गुरु, छात्र, अन्तेवासी, विद्यार्थी, शिष्य, अज्ञान, माया, अंधकार, ज्ञान, गुरुकुल, उपाध्याय, आचार्य, कुलपति*

भारतीय संस्कृति में गुरु शिष्य की परम्परा का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग से पूर्व जब मानव सृष्टि का आरम्भ हुआ और दैनिक आवश्यकताओं यथा भोजन, वस्त्र, आवास आदि की उपलब्धता हो जाने पर मानव की चिन्तनशील एवं विकासवादी परम्परा के द्वारा मानव मस्तिष्क में कई नए विचार उत्पन्न हुए जिन्हें हम ज्ञानात्मक प्रक्रिया का आरम्भ कह सकते है। तदनन्तर यह ज्ञान एक व्यक्ति से दुसरे व्यक्ति तक पहुंचा जिससे गुरु-शिष्य परम्परा का विकास हुआ।

ज्ञान सम्प्रेषण की यह प्रक्रिया निरन्तर प्रवाहित होती रही। समय के साथ मानव मन में उत्पन्न जिज्ञासाओं के समाधान हेतु तत्वदर्शी गुरुओं ने अपने अंतर्ज्ञान को पूर्ण समर्पण के साथ अपने शिष्यों के मध्य पहुंचाया। गुरु शिष्य की परम्परा से ही महर्षि जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, कश्यप, गौतम, भारद्वाज, वशिष्ठ, आचार्य यास्क, पाणिनि, शंकराचार्य, महाप्रभु चैतन्य, स्वामी विरजानन्द, स्वामी विवेकानन्द, समर्थ गुरु रामदास आदि महान पुरुषों ने भारत धरा को अपनी ज्ञान परम्परा से समृद्ध किया और भारत वर्ष को विश्वगुरु के रूप में प्रसिद्धि दिलाई ।

स्कन्दपुराण में गुरु शब्द को विश्लेषित करते हुए बताया गया की '**गु**' पद से '**अन्धकार**' तथा '**रु**' पद से '**तेज और प्रकाश**' अर्थ की प्रतीति होती है। अत: अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला, अज्ञान को दूर कर ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करने वाला 'गुरु' कहलाता है।

गुकारात्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते।

अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशय:।।[1]

गुरु शब्द के प्रथम वर्ण 'गु' को माया आदि गुणों को दर्शाने वाला तथा द्वित्तीय वर्ण 'रु' ब्रह्म का द्योतक है, अर्थात् शिष्य के लिए माया आदि गुणों को प्रकाशित कर माया भ्रान्ति आदि का विनाश कर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग की ओर ले जाने वाला गुरु कहा जाता है।

गुकार: प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासक:।

रुकरो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविनाशनम्।।[2]

गुरु पद विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है, जिसमें शिष्य के अधिभौतिक, अधिदैविक एवं आध्यात्मिक दोषों के निवारण की शक्तियाँ निहित है। भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा गुरु अपने शिष्यों को सर्व शास्त्र विशारद कर उसे विश्व कल्याण हेतु प्रेषित करते हैं। गुरु को मार्गदर्शक, राष्ट्र निर्माता, सत्प्रेरक मानते हुए भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान ईश्वर से भी श्रेष्ठ माना गया है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर:।

गुरुर्साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नम:।।[3]

800 ई. में कवि श्रीलक्ष्मण देसिकेन्द्र द्वारा रचित ***शारदातिलक*** ग्रन्थ में गुरु के लक्षणों को विस्तार से परिगणित किया गया है। श्रीलक्ष्मण देसिकेन्द्र के अनुसार गुरु कुलीन, सदाचारी, शुद्ध भावना से युक्त, जितेन्द्रिय, सभी शास्त्रों के सारतत्व को जानने वाला, परोपकारी, जप-तप में तत्पर, अमोघ वाणी, वेद और दर्शन का पारदर्शी, योगमार्गी, देवताओं के समान प्रसन्न ह्रदय, इत्यादि गुण स्वभाव से समन्वित गुरु होता है।

मातृत: पितृत: शुद्ध: शुद्धाभावो जितेन्द्रिय:।

सर्वागमानाम् सारज्ञ: सर्वशास्त्रार्थ तत्त्ववित्।।[4]

परोपकारनिरतो जपपूजादितत्पर:।

अमोघवचन: शान्तो वेदवेदार्थपारग।।[5]

योगमार्गानुसन्धायी देवता ह्रदयङ्गम:।

इत्यादि गुणसम्पन्नो गुरुरागम सम्मत।।[6]

कुलार्णव तंत्र के अनुसार गुरु के छ भेद बताये गए है-

प्रेरक: सूचकश्चैव वाचको दर्शकश्च।

शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरव: स्मृता।।[7]

मुण्डकोपनिषद् में गुरु शिष्य परम्परा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व के रचयिता ब्रह्मा सर्वप्रथम अपने पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश करते है। तदनन्तर गुरु शिष्य परम्परा के द्वारा ही अथर्व ऋषि से अङ्गिरा, भारद्वाज, अङ्गिरस, महागृहस्थ शौनक, को क्रमश: ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त होता है।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तं पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।

स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥[8]

यहीं से गुरुकुल व्यवस्था का विकास माना जा सकता है। प्रश्नोपनिषद् में वर्णन प्राप्त होता है कि शिष्य ज्ञान प्राप्ति हेतु हाथ में समिधाएँ लेकर नंगे पांव गुरु के चरणों में जाता है। गुरु भी श्रेष्ठ एवं योग्य शिष्य की प्राप्ति हेतु शिष्य की कठोर परीक्षा लेते हैं। शिक्षा प्राप्ति हेतु शिष्य गुरुकुल में निवास करते हुए अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

प्राचीन शास्त्रों में गुरु शिष्य के आदर्श सम्बन्ध थे। शिष्य गुरु को माता पिता के समान आदर देता था तथा गुरु भी शिष्य के साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे।

तं मन्येत् पितरं मातरं च तस्मै च दुहोत्कतमच्चनाह।[9]

गुरु की सेवा सुश्रुषा शिष्य का कर्तव्य माना जाता था। प्राचीन शास्त्रों में शिष्य गुरु के लिए दैनिक उपभोग की वस्तुएँ यथा जल, आसन, ईंधन व्यवस्था, साफ-सफाई, गायों की सेवा आदि कार्य करता था। मनुस्मृति के अनुसार गुरु की सेवा सुश्रुषा करने से ही शिष्य ज्ञान का अधिकारी होता था।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।

तथा गुरुगतां विद्यान् शुश्रुषुधिगच्छति॥[10]

जिस प्रकार यंत्र-औजार से जमीन को खोदता हुआ मनुष्य जल प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरु की सेवा करता हुआ शिष्य भी गुरु की विद्या को प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद्भाग्वद्पुराण के ग्यारहवें स्कन्ध में नव योगेश्वर संवाद के द्वारा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को गुरु की महत्ता बतलाते हुए कहते है कि उत्तम कल्याण को प्राप्त करने हेतु जिज्ञासु व्यक्ति को शब्दज्ञानी, तत्त्वज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। गुरु के प्रति मनुष्यत्व का भाव न रखकर उन्हें सदैव सर्वदेवमय मानना चाहिए, गुरु का अपमान कदापि नहीं करना चाहिए और गुरु में सदैव मेरा स्वरूप ही देखना चाहिए-

आचार्य माम् विजानीयात्, नावमन्येत् कर्हिचित्।

न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत्, सर्वदेवमयो गुरुः ।।[11]

वस्तुत: गुरु ही ब्रह्म के रूप में शिष्य के ह्रदय में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि की उत्पत्ति कर भगवद् विरोधी विकारों का शमन करता है। अतएव गुरु को ज्ञानमूर्ति, नित्य, चेतन तथा सच्चिदानन्द कहा गया है-

ब्रह्मानन्दं परमं सुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति

द्वन्दातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्

भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरुं तं नमामि ।।[12]

जो ब्रह्मानन्द स्वरूप हैं, परम सुख देने वाले हैं, जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं, (सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि) द्वंद्वों से रहित हैं, आकाश के समान सूक्ष्म और सर्वव्यापक हैं, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्यार्थ हैं, एक हैं, नित्य हैं, मलरहित हैं, अचल हैं, सर्व बुद्धियों के साक्षी हैं, भावों या मानसिक स्थितियों से परे हैं, सत्त्व, रज, और तम तीनों गुणों से रहित हैं, ऐसे श्री सद्गुरूदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।
मनुस्मृति ग्रन्थ में गुरु शब्द हेतु अनेक समानार्थी शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा आचार्य, उपाध्याय, शिक्षक, अध्यापक, इत्यादि। यथा-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते॥[13]

जो ब्राह्मण शिष्य का उपवीत कराके उसे कल्प और रहस्य (यज्ञ विद्या और उपनिषद के साथ पढ़ाता है, उसे आचार्य कहा जाता है।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपध्यायः स उच्यते॥[14]

जो वेद का भाग और वेदाङ्ग (व्याकरणादि) जीविका लिये पढ़ाता है, उसे उपाध्याय कहते हैं।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।

सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥[15]

जो गर्भाधानादि कर्मों को यथोक्त रीति से करता है और अन्न से पोषण करता उस ब्राह्मण को गुरु कहते हैं।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।

तमपीह गुरुं विद्याच्छुतोपक्रियया तया॥[16]

जो शास्त्र द्वारा थोड़ा या बहुत उपकार करे उसको भी उस उपकार के बदले गुरु मानना चाहिये।

अत: ज्ञान, साधना, कला, इत्यादि की प्राप्ति के लिए गुरु अनुकम्पा अत्यन्त आवश्यक है। मानव द्वारा मनोवाञ्छित लक्ष्य की प्राप्ति गुरु के बिना सम्भव नहीं है। कदाचित् विद्यार्थी कुछ विशेष प्रयासों से लक्ष्य को प्राप्त भी कर ले परन्तु उसकी विद्या में वह स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता, अभिनवता एवं प्रान्जलता प्रकट नहीं होती है, जो कि सद्गुरु के आशीर्वाद से प्राप्त हो सकती है।

गुरु के उपदेशामृत के पान के लिए ही सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ: ईश्वर भी कभी राम, कभी कृष्ण आदि रूपों में महर्षि विश्वामित्र से, वशिष्ट से, सान्दिपनी आदि के शिष्यत्व को ग्रहण कर गुरु कृपा प्रसाद को प्राप्त करते है।

गुरु शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गुरु शिष्य दोनों पद एक-दुसरे के पूरक है, क्योंकि ज्ञाता एवं ज्ञेय के तादात्म्य से ही ज्ञान अक्षुण्ण रहता है। शिष्य पद की व्युत्पत्ति **शास्** धातु से **क्यप्** प्रत्यय करने पर होती है, जिसका तात्पर्य है शासन करने योग्य अथवा जिस पर शासन किया जा सके। अर्थात् गुरु अपने ज्ञान के प्रवाह हेतु जिस पर शासन करे वह शिष्य है।

शिष्य को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार छात्र, विद्यार्थी, अन्तेवासी आदि नाम से व्यवहृत किया गया है।

शिष्य- शासितुं योग्यः इति। (एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्)[17]

अर्थात् वह व्यक्ति या बालक जिसका जीवन अनुशासित हो। अध्ययन समय में पूर्ण अनुशासन का पालन करने वाला बालक सामाजिक जीवन में भी सफल होता है।

छात्र- गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रम् तच्छीलमस्य छात्रः। (छत्रदिभ्यो णः)[18]

अध्ययन काल में गुरु के समीप अपनी समस्या का समाधान प्राप्त न होने पर भी धैर्यपूर्वक समाधान की प्रतीक्षा करता हुआ गुरु के अज्ञान दोष की छत्र के समान रक्षा करने वाला बालक **छात्र** कहा जाता है।

विद्यार्थी- विद्याम् अर्थयते तच्छीलः विद्यार्थी। विद्या अर्थ + णिनि (प्रत्ययः) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये[19]

गुरु की सेवा-सुश्रुषा में संलग्न तथा विद्या प्राप्ति हेतु उत्कर्ष्ट अनुराग रखने वाला बालक विद्यार्थी कहा जाता है।

अन्तेवासी- अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छीलः, अन्तेवासी। अन्तेवस् + णिनि (प्रत्ययः) शयवासवसिष्वकालात्[20]

गुरु की सेवा-सुश्रुषा में संलग्न, गुरु के समीप रहता हुआ, अवसरानुसार शंका समाधान हेतु प्रयत्न शील रहता है, उसे अन्तेवासी कहा जाता है।

मनुस्मृति के अनुसार शिष्य को विद्या प्राप्ति हेतु गुरु की आज्ञा का पालन, सेवा, भिक्षाटन, ब्रह्मचर्य आदि का पालन अनिवार्य है। यथा-

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥[21]

शिष्य को गुरु के द्वारा कहे जाने पर अथवा न कहे जाने पर भी नित्य विद्याध्ययन में और आचार्य की सेवा में प्रयत्नशील रहना चाहिये।

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।

प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाध्दावंस्तु धावतः॥[22]

यदि गुरु बैठे हों तो स्वयं उठकर, खड़े हों तो सामने जाकर, आते हों तो सम्मुख चलकर, चलते हों तो उनके पीछे दौड़कर गुरु की बात सुननी चाहिये।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।

गुरोस्तु चक्षुविर्षये न यथेष्टासनो भवेत्॥[23]

शिष्य को हमेशा गुरु के समीप अपनी शय्या और आसन उनसे नीचे रखना चाहिये। गुरु के सामने यथेच्छा किसी भी आसन पर नहीं बैठना चाहिये।

गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।

कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥[24]

जहाँ गुरु का उपहास अथवा निन्दा होती हो वहाँ कानों को बन्द कर ले अथवा कहीं अन्यत्र चला जाये।

परिवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥[25]

गुरु का उपहास करने वाला मरने पर गर्दभ, निन्दा करने से श्वान, उसकी सम्पति का भोग करने से कृमि और ईर्ष्या करने से कीड़ा होता है।

यास्काचार्य ने शिष्य के गुणों एवं अवगुणों का वर्णन करते हुए कहा कि विद्या विद्वान् से आग्रह करती है कि असूयायुक्त, दोषदर्शी, कुटिल, असंयमी एवं गुरुद्रोही शिष्य के प्रति मुझे मत देना। अध्यापन कार्य करवाए जाने पर भी जो शिष्य मन, वाणी, कर्म से गुरु का आदर सम्मान नहीं करता है, ऐसे शिष्य की शास्त्र भी रक्षा नहीं कर सकते है। पवित्र, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचर्य सम्पन्न, गुरु द्रोह से रहित, शिष्य के प्रति मेरा दान करना चाहिए। तभी में सुरक्षित रह कर मैं गुरु तथा शिष्य के लिए सुख का आश्रय बनूँगी।

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपी मा शेवधिष्टेहमस्मि।

असूयकायानृजेऽयताय न मा ब्रूयावीर्यवती तथास्याम्।।[26]

गुरु शिष्य सम्बन्ध

यद्यपि गुरु शिष्य के सम्बन्धो यथोचित ज्ञान पूर्वोक्त गुरु एवं शिष्य पदों के विश्लेषण से हो जाता है, तदपि मानव जीवन के सम्बन्धो का अभिज्ञान गुरु शिष्य परम्परा में भी दृष्टिगोचर होता है। डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल द्वारा रचित *भारतीय संस्कृति* पुस्तक में गुरु शिष्य सम्बन्ध के चार प्रकार दृष्टव्य हैं -

स्वामी – सेवक भाव

बालक 8 से 10 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर अपने हाथ में समिधाएँ लेकर विद्या प्राप्ति के हेतु गुरु के समीप जाता है। गुरु बालक का उपनयन कर उसे विद्या दान हेतु स्वीकार करता है। अत: गुरु एवं शिष्य में स्वामी सेवक सम्बन्ध हो जाता है। शिष्य गुरु की सेवा सुश्रुषा करते हुए गुरु को प्रसन्न करता है। गुरु शिष्य की सेवा से प्रसन्न होता हुआ उसके लिए शिक्षा का दान देता है। स्वामी सेवक सम्बन्ध के फलस्वरूप गुरु शिष्य का पालन पोषण करते हुए उसे अनुशासित कर उसके दोषों को दूर करता है।

शिष्य सदैव श्रद्धा पूर्वक गुरु के समीप रहे। शिष्य द्वारा की गई सेवा सुश्रुषा से प्रसन्न होने पर गुरु स्वयं समस्त विद्या शिष्य के अन्त:करण में उद्भासित कर देते हैं।

शुकनासोपदेश के अनुसार शास्त्र ज्ञान से स्वच्छ मन वाले व्यक्ति ही उपदेश के योग्य पात्र होते है-

अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगमस्तयो विशन्ति सुखेनापदेशगुणा:।[27]

पिता पुत्र भाव

वैदिक परम्परा के अन्तर्गत बहुविध स्थानों पर गुरु और शिष्य में परस्पर पिता पुत्रवत् सम्बन्ध के दर्शन होते है, यथा अथर्ववेद के अनुसार 'आचार्य अपने समीप लाये गए ब्रह्मचारी शिष्य को तीन रात्रि तक अपने उदर में रखता है।'

आचार्यो उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त।

तं रात्रीस्तिस्त्रं उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा।।[28]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि 'माता पिता केवल बालक के शरीर मात्र को उत्पन्न करने वाले होते है, वस्तुत: गुरु ही शिक्षा के द्वारा शिष्य को जन्म देता है, क्योंकि विद्यायुक्त जीवन ही श्रेष्ठ जीवन माना गया है।

स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयत:।[29]

इस प्रकार गुरु शिष्य से पुत्रवत् स्नेह करता हुआ उसके सर्वांगीण विकास हेतु तत्पर होता है। शिष्य को संस्कारित, ज्ञानसम्पन्न, सभा-समिति में भाग लेने योग्य कर अपने ज्ञानवंश को प्रसारित करता है।

पूज्य-पूजक भाव

उपनिषत् साहित्य में प्राप्त वर्णनानुसार शिष्य ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा से गुरु के समीप जाता है तथा मन, कर्म, वचन से गुरु के प्रति श्रद्धान्वित होकर सेवा-सुश्रुषा करता हुआ ज्ञान का संचय करता है। उस समय शिष्य के मन में उत्पन्न भक्ति-भाव से प्रसन्न गुरु शिष्य के अन्त:करण में समस्त विद्याओं को उसी प्रकार प्रकट कर देता है, जिस प्रकार भक्ति-भाव से प्रसन्न भगवान् भक्त के लिए ऐश्वर्य प्रदान करते है। अतएव शंकराचार्य ने **देवतावाद् उपास्य:** कहते हुए गुरु शिष्य में पूज्य-पूजक भाव सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है।

शिवे क्रुद्धे गुरुस्त्राता, गुरौ क्रुद्धे शिवो न ही ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, श्रीगुरुं शरणं व्रजेत् ॥[30]॥

यदि शिवजी नाराज़ हो जायें तो गुरुदेव बचाने वाले हैं, किन्तु यदि गुरुदेव ही नाराज हो जाए तो शिवजी भी बचानेवाले नहीं है। अतः गुरुदेव को संप्राप्त करके सदा उनकी शरण में रहना चाहिए।

समभाव सम्बन्ध

वैदिक परम्परा में गुरु शिष्य सम्बन्ध में पारस्परिक सौहार्द एवं मैत्री भाव के दर्शन होते है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिष्य प्रार्थना करता है कि "हे ईश्वर! मेरी रक्षा करो, ज्ञान प्रदाता गुरु की रक्षा करो।"

तन्मामवतु तद् वक्तारमवतु।[31]

इसी प्रकार कठोपनिषद् के शान्तिपाठ में भी गुरु शिष्य में समभाव के दिग्दर्शन होते है-

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्विनामधीतमस्तु मा विद्विषामहै।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।[32]

गुरुशिष्य परम्परा की वर्तमान समय में प्रासंगिकता

भारतीय संस्कृति में गुरु शिष्य परम्परा के माध्यम से धर्म, कर्म, संस्कार, पुरुषार्थ, वर्ण, आश्रम, शास्त्र इत्यादि का ज्ञान प्रदान किया जाता रहा है। इस ज्ञान परम्परा के प्राचीन ऋषियों ने शिष्य के कल्याण हेतु ऋत, सत्य, तप, दम, शम, एवं लौकिक व्यवहार पर विशेष बल दिया है। प्राचीन परम्परा में शिक्षाविद् आचार्यों के मन में धन प्राप्ति की लिप्सा नहीं थी अत: वे विशुद्ध भाव से परमार्थ की सिद्धि हेतु शिक्षा प्रदान करते थे –

ज्ञानं विशुद्धं परमर्थामेकम्।[33]

प्राचीन समय में ऋषिगण ही शिक्षा के केंद्र हुआ करते थे। जहाँ पर शिष्य संयम, नियम, व्रत, आसन, प्राणायाम, सदाचार, गुरु सेवा करते हुए विद्या ग्रहण करते थे। गुरु-शिष्य की आत्मीय एवं घनिष्ठ परम्परा ही भारतीय शिक्षा जगत का अमूल्य पक्ष है। निस्वार्थ स्नेह, त्याग, परस्पर निष्ठा, विश्वास एवं सामीप्य के द्वारा गुरु-शिष्य सम्बन्धो में प्रगाढ़ता एवं मधुरता का संचार होता था।

गुरुकुल में गुरु गर्भस्थ पुत्रवत् छात्र का परिपालन करते थे। उसके जन्म, परिवार, जाति, कुल, परिवेश आदि से युक्त संस्कारो को मिटाकर उसमें निहित अज्ञान को दूरकर उसे प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि की आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा उसकी आत्मिक विकास करते हैं। विद्यार्थी के चारित्रिक, सामाजिक, नैतिक, शारीरिक एवं व्यावहारिक निर्माण में गुरु की अद्वित्तीय भूमिका रही है।

किन्तु वर्तमान समय में पाश्चात्य परम्पराओं के अन्धानुकरण ने हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति एवं गुरु शिष्य समबन्धों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। गुरु शिष्य सम्बन्ध तनावयुक्त तथा शिक्षा संस्थान उपाधि वितरक मात्र रह गए हैं। शिक्षा से तात्पर्य उच्च उपाधि तथा नौकरी प्राप्त करना मात्र हो गया है। अत: आवश्यक है की हमारी शिक्षा पद्धति न केवल वैज्ञानिक अपितु आध्यात्मिक एवं चारित्रिक दृष्टि से भी पूर्ण हो।

भारत की सनातन संस्कृति में 'गुरु' को एक परम भाव माना गया है जो कभी नष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए हमारे यहां गुरु को व्यक्ति नहीं अपितु विचार की संज्ञा दी गयी है। ज्ञान विज्ञान के प्रसार में गुरु शिष्य दोनों का समन्वय अत्यन्त आवश्यक है। शिष्य के सर्वांगीण विकास एवं राष्ट्र निर्माण में गुरु का स्थान सर्वोपरि है।

प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा के अनुकरण से विद्यार्थी का बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक विकास संभव हो सकेगा। अतएव नई शिक्षा नीति 2020 मे भी विद्यार्थी के समग्र विकास हेतु पर जोर दिया गया है।

गुरु शिष्य परम्परा के द्वारा विद्यार्थियों में आलोचनात्मक, समीक्षात्मक, तार्किक ज्ञान में वृद्धि हेतु शास्त्रार्थ परम्परा का निर्वहन किया जाता था।

वर्तमान परिदृश्य में बढ़ते आपराधिक कृत्यों को देखते हुए हमें पुन: प्राचीन भारतीय परम्पराओं की ओर बढना होगा जहाँ मूल्य आधारित, नैतिकता परक, दया, दाक्षिण्य, सहानुभूति, प्रेम, परोपकार, निस्वार्थ-भाव एवं गुणवत्ता युक्त नागरिकों के निर्माण हेतु प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा की महती आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. स्कन्दपुराण/ उत्तरखण्ड /उमामहेश्वर संवाद प्रथम अध्याय 23(गुरु गीता)
2. वहीं 24
3. गुरुस्तोत्र, तृतीय मन्त्र
4. श्रीलक्ष्मण देसिकेन्द्र रचित शारदातिलक, द्वित्तीय पटल, 142
5. वहीं 143
6. वहीं 144
7. कुलार्णव तंत्र, त्रयोदश उल्लास
8. मुण्डकोपनिषद्, प्रथम खण्ड/ 2
9. निरुक्त, द्वित्तीय अध्याय, चतुर्थ खण्ड
10. मनुस्मृति **2/218**
11. श्रीमद्भाग्वद्पुराण के ग्यारहवें स्कन्ध में नव योगेश्वर संवाद
12. स्कन्दपुराण उत्तरखण्ड उमामहेश्वर संवाद द्वित्तीय अध्याय (गुरु गीता) 52
13. मनुस्मृति **2/140**
14. वहीं **2/141**
15. वहीं **2/142**
16. वहीं **2/149**
17. पाणिनिसूत्र 3/1/109
18. वहीं 4/4/62
19. वहीं 3/2/79
20. वहीं 6/3/29
21. मनुस्मृति **2/191**
22. वहीं **2/196**
23. वहीं **2/198**
24. वहीं **2/200**
25. वहीं **2/201**
26. निरुक्त, द्वित्तीय अध्याय, चतुर्थ खण्ड
27. शुकनासोपदेश लक्ष्मी चरित वर्णने
28. अथर्ववेद 11/5/3
29. आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/1/1/16
30. स्कन्दपुराण उत्तरखण्ड (गुरु गीता 44)
31. तैत्तिरीय उपनिषद् प्रथम अनुवाक
32. कठोपनिषद् 6/19
33. श्रीमद्भागवद्गीता 5/12/11

Disclaimer/Publisher's Note: The views, findings, conclusions, and opinions expressed in articles published in this journal are exclusively those of the individual author(s) and contributor(s). The publisher and/or editorial team neither endorse nor necessarily share these viewpoints. The publisher and/or editors assume no responsibility or liability for any damage, harm, loss, or injury, whether personal or otherwise, that might occur from the use, interpretation, or reliance upon the information, methods, instructions, or products discussed in the journal's content.

****